P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-3* ISSUE-12* March- 2019
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

दलित अस्मिता और उभरता दलित विमर्श

हबीब खान
सहायक आचार्य,
हिन्दी विभाग,
राजकीय बाँगड़ महाविद्यालय,
डीडवाना, भारत

सारांश

दलित, दलित आन्दोलन, कई विचारधाराओं और वैचारिक विमर्शों के बीच दलित अस्मिता को परिभाषित करना आसान काम नहीं हैं। आज के दलित के साथ इतिहास, भूगोल, राजनीति और राजव्यवस्था, वर्ण, वर्ग, जाति, धर्म और कई भँवरदार प्रश्न जुड़ गए है। विज्ञान, शहरीकरण, औद्योगिकीकरण के प्रश्नों को आधुनिकता ने नये चेहरे में गढ़ दिया है जिसमें हिन्दू धर्म के साथ दलित कैसे जुड़ गए है, जिससे दलित अस्मिता का स्वरूप परिवर्तित हो गया है। वैदिक व्यवस्था की वर्णव्यवस्था से लेकर औद्योगिकीकरण की वर्णव्यवस्था के घटकों को देखती जाति व्यवस्था आज इस मुकाम तक पहुँच गई है जिसमें शहरीकरण ने अस्पृश्य–अछूत–शूद्र की समस्या को काफी हद तक दबा दिया है। शहरों में धनी वर्ग की नौकर चाहत ने शूद्रों दलितों, अस्पृश्यों के हाथों के मैल को धो दिया है। अब नारा है 'सब चलता है।' डाक्टर लड़का डाक्टर लड़की से विवाह कर जाति की कट्टरता को छीलकर फेंक रहा है। ब्राह्मणों की नई पीढ़ी पुरोहिताई नहीं करना चाहती, संस्कृत नही, अंग्रेजी पढ़ना चाहती है। अंग्रेजी पढ़कर मल्टी नेशनल कम्पनियों में नौकरी करना चाहती है। अब वेद और मनुस्मृति का संसार ध्वस्त हो चुका है। वैदिक जाति के बन्धन से लगाकर पगबन्दी के खुलने के सफर संघर्ष भरा है। जोतिराव फुले, आम्बेडकर ओमप्रकाश वाल्मीकि तथा अन्य दलित नेताओं का सफर मायावती से आकर जुड़ जाता है। दलित मुक्ति के मार्ग की आगामी चाल तो समय के गर्भ में है, जिसे आँकना अभी समीचीन नहीं है।

मुख्य शब्द : वर्णव्यवस्था, सामाजिक रूपान्तरण, प्रतिवाद, अस्मिता, गोबराला, विजयी मुद्रा, सामाजिक–अलगाव, चिन्तन, अनुभवजन्य, आलीशान, राजसता।

प्रस्तावना

भारतीय समाज में व्याप्त वर्णव्यवस्था, अस्पृश्यता, शोषण, दमन के खिलाफ संघर्ष की लम्बी दास्तान है। प्राचीन काल से लेकर आजतक सामाजिक परिवर्तन के लिए निरन्तर आन्दोलन चलते रहे हैं। जाति भारतीय वर्णव्यवस्था की कोख से उपजी ऐसी विकृति है जिसकी सजा दलित समाज भोग रहा है। वही शोषण का दर्द पुराने मठों और गढ़ों को तोड़कर नए अनगढ़ तरीके का अनुभवजन्य साहित्य में फूट रहा है। जिनको शिक्षा, साहित्य और मानवाधिकारों से सदियों से दूर रखा वे दलित के आत्म और सामुदायिक अस्मिताओं को आधार बनाकर विमर्श उभारते हैं। उनका ज्यादा विमर्श अतीत के शोषणकारी रूपों का चित्रण करता है लेकिन सामाजिक रूपान्तरण के पहलू से बेखबर रहता है। दलित का आख्यान दलित से शुरू होता है लेकिन निजी दायरे की सीमा लाँघकर सामाजिक –राजनीतिक गलियारे में घूमता है। वह व्यक्ति के बहाने समुदाय के प्रतिवाद का साहित्य बन जाता है। समुदाय के केन्द्र में आने से मध्ययुगीनता की वापसी का खतरा मँडराने लगता है। दलितों की समस्याओं को समझने के लिए समस्या की जड़ों तक जाकर जाँच पड़ताल करनी होगी तब ही सही समाधान के सूत्र पकड़े जा सकेंगे।

अध्ययन के उद्देश्य

दलित साहित्य पर विचार करते समय जाति के दायरे में चलने वाले विमर्श उसकी समस्याओं को समझने, दलित लेखक की सोच, जाति से हटकर लिखने वालों की सोच, दलित विमर्श की अवधारणा, रूढ़िगत दायरों को तोड़ने की जरूरत को समझने की आवश्यकता है। निम्नलिखित शीर्षकों में बाँटकर इस आलेख में समझने का विनम्र प्रयास किया गया है।

1. दलित शब्द का अर्थ
2. दलित अस्मिता
3. दलितों का इतिहास

4. दलित साहित्य की वैचारिकी
5. दलित अवधारणा का साहित्यिक विकास
6. दलित विमर्श
7. निष्कर्ष

शोध प्रविधि

इस शोध में विवरणात्मक पद्वति से सूचना संकलित कर विचारात्मक एवं विश्लेषणात्मक ढंग से/प्रविधि से विमर्श को समझने के लिए शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है।

वह दिन जो इन्सान को गुलाम बनाता है, उससे उसके आधे गुण छीन लेता है।

–होमर

दलित का अर्थ

दलित शब्द दलन से बना है जिसका अर्थ है मसला, रौंदा हुआ, नष्ट किया हुआ, दरिद्र और पीड़ित। दलित एक आधुनिक शब्द है यह शब्द किसी जाति विशेष के लिए नहीं अपितु पूरे दबे–कुचले समाज के लिए प्रयोग किया जाता है। संस्कृत में दलित शब्द दल धातु से '**इत**' प्रत्यय जुड़ने से बना है। आधुनिक भारत में दलित वह है जिसका दलन, दोहन और शोषण हुआ है जो समाज में वंचित, उपेक्षित और प्रताड़ित रहा है। प्राचीन समाजशास्त्रों में शूद्र शब्द (दलित के लिए) तिरस्कार बोधक रहा है। दलित वर्ग समाज का वह वर्ग है जिसे उच्च वर्ग के लोग उठने न देते हो। 'समाज का निम्नतम वर्ग जिसे विशिष्ट संज्ञा आर्थिक व्यवस्थाओं के अनुरूप ही प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ :– दास प्रथा में दास, सामन्ती व्यवस्था में किसान और पूँजीवादी व्यवस्था में मजदूर समाज का दलित वर्ग है।[1]

दलित वर्ग अपने व्यवसाय अर्थ में वह वर्ग है जो शोषित है, जो प्रताड़ित है, वंचित है, बहिष्कृत है, जो अपने जीवन के स्वप्नों के स्वयं नियंता नहीं है। वे सामाजिक दृष्टि से सबसे ज्यादा शोषित होते हैं। दलित वर्ग आधुनिक युग में भी सभ्य समाज से दूर किनारे पर अलग दलित बस्तियों में रहते हैं। बादरायण ने वेदान्त सूत्र में शूद्र की व्युत्पत्यर्थ निकालने का प्रयास किया है। उन्होनें शूद्र को दो भागों में विभक्त किया। शूक (शोक) द्र जो 'द्रु' धातु से बना है जिसका अर्थ है दोड़ना। इसकी टीका करते हुए शंकर ने इस तथ्य की तीन व्याख्या की है– 1. वह शोक के अन्दर दौड़ गया वह शोक निमग्न हो गया। 2. उस पर शोक दौड़ आया– उस पर संताप छा गया। 3. अपने शोक के मारे वह रैक्व दौड़ गया। शंकर का निष्कर्ष है कि शूद्र शब्द की विभिन्न अंगो की व्याख्या करने पर ही उसे समझा जा सकता है।'[2] (शंकर कमेन्ट्री टु वेदान्त सूत्र)

दलित शब्द का प्रयोग बाबा साहेब आम्बेडकर ने नवबौद्व अनुयायियों के लिए किया था जिसका तात्पर्य था, ' जिसे तोड़ दिया गया है और जिसे सामाजिक दर्जे से ऊपर बैठे लोगों ने जान बूझकर नियोजित रूप से कुचल डाला है। इस शब्द में छूआ–छूत, कर्म सिद्वान्त और जातिगत श्रेणीक्रम का नकार निहित है।[3] दलित शब्द का प्राचीनतम रूप शूद्र है। जोतिराव फुले ने दलित नाम दिया। बहुजन नामक कांशीराम ने दलित के लिए बहुजन शब्द का प्रयोग किया। बहुजन पालि भाषा का शब्द है जिसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध को माना जाता है। 1932 में महात्मा गाँधी ने अछूत समाज के लिए 'हरिजन' शब्द दिया जिसे नरसी मेहता ने देवदासियों की अवैध सन्तान के लिए दिया था।

दलित अस्मिता

आधुनिक भारतीय साहित्य के संदर्भ में दलित वह है जिसका दारूण दलन, दोहन और शोषण होता रहा है। समाज में वंचित, उपेक्षित और प्रताड़ित रहा है। दुर्भाग्य जिसका पर्याय, दास्य जिसका व्यवसाय, दारिद्रय जिसका अमिट अध्याय रहा है वह दलित है अभाव जिसका भाग्य, अन्याय जिसका साक्ष्य और विलाप जिसका काव्य रहा है वही दलित की पहचान रही है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहचान की तरफ संकेत करती है। दलित समाज वह है जिसे संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है। दलित शब्द वर्णव्यवस्था के शूद्र का नवीन नामकरण है। भारतीय समाज में जिसे अस्पृश्य माना जा रहा है वह दलित है।

'अस्मिता एक ऐसा दायरा है जिसके तहत व्यक्ति एवं समुदाय यह बताते है कि वे खुद को क्या समझते हैं। अस्मिता का दायरा अपने आप में बौद्विक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक संरचना का रूप ले लेता है। जिसकी रक्षा के लिए व्यक्ति और समुदाय किसी भी हद तक जा सकता है। दलित अस्मिता के तहत दलित अपने आदि द्रविड के रूप में, कभी पतित हो चुके क्षत्रियों के रूप में, नागरिक समाज में दलित सदस्य के रूप में देखता है। अन्य अस्मिताओं की तरह उसकी आधुनिक अस्मिता का कोई स्वायत्त, नैसर्गिक और स्थायी रूप नही है।'[4]

दलित द्वारा बनायी गई अस्मिता द्विजों से भिन्न है। उनकी अस्मिता दलित होना, उत्पीड़ित और शोषित होना है। वे उपनी अस्मिता के लिए पारम्परिक अस्मिता को मिटाने के लिए तैयार नहीं है। वे आम्बेडकर को भी पूजनीय मानते हैं और महात्मा गाँधी के प्रति भी श्रद्वाभाव रखते है। उनका प्रमुख उद्देश्य समता हासिल करने और छूआछूत मिटाने के लिए प्रतिबद्व है। दलित चेतना के अन्तर्गत दलित होने का त्रासद बोध, दलित होते रहने की स्थिति का अस्वीकार, वर्तमान राजसत्ता में समुचित भागीदारी और दलितत्व से मुक्ति प्रमुख तत्त्व रहे हैं। किसी भी अस्मिता की रचना के लिए एक समान संस्कृति में भागीदारी की अनुभूति के साथ दूसरी संस्कृतियों से भिन्नता पर जोर देना जरूरी होता है। अस्मिता रचना की यह प्रक्रिया वास्तव में राजनीति प्रेरित ही होती है। 20 वीं शताब्दी के शुरूआत में अछूत हिन्दुओं ने ऊँची जाति के हिन्दुओं के मुकाबले में पृथक अस्मिता का दावा किया और अपने को मुसलमानों की तरह अलग संस्कृति रखने वाली कौम बताया। डॉ. आम्बेडकर ने 1948 में यही दलील दी थी, अछूत प्राचीनकाल के मूल बौद्वों के वंशज है। ब्राह्मणों ने उन्हें गोमाँस खाने पर मजबूर किया और

अछूत बना दिया ताकि वे टूटे हुए, अपवित्र, भूमिहीन और भद्र समाज की परिधि से दूर पड़े रहे।[5]

दलितों का इतिहास

आर्यो के प्रभुत्त्व स्थापित होने से पूर्व देश तीन वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य थे। इन तीनों वर्णो को द्विज कहा जाता था क्योंकि इनका उपनयन संस्कार होता था। उस समय कर्म के आधार पर एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण में आता–जाता था। कुछ सीमा तक इनमें विवाह संस्कार होते थे। उस समय चतुर्थ वर्ण नहीं था। चौथे वर्ण के स्थान पर अनार्य, दस्यु, दास शब्दों का प्रयोग किया जाता था। प्रारम्भिक अवस्था में यह वर्ण आर्यों के अधीन नहीं था। कालान्तर में आर्यो ने शारीरिक और मानसिक रूप से अधीन कर इनके मवेशी और भूमि पर आधिपत्य कर लिया और इन्हें अशक्त बना दिया। दूसरी ओर शक्तिशाली लोगों के पास इतनी जमीन और मवेशी हो गए कि वे सँभाल नहीं सकते थे और इन्हें मजदूरों की आवश्यकता हुई। मजदूरी करने वाले ये अशक्त लोग समाज के चतुर्थ वर्ण कहलाने लगे और इन्हें शूद्र का नाम दिया गया। डॉ. आम्बेडकर पहले भारतीय है जिन्होंने दलितों की उपस्थिति को रेखांकित किया है। उन्होंने अपने लेखन में दो तथ्यों को स्वीकार किया है – 1 भारतीय संस्कृति एक समान कभी नहीं रही। 2 मुसलमानों के आने से पूर्व भारत का इतिहास ब्राह्मणों और बौद्वो के बीच संघर्ष का इतिहास रहा है।

डॉ. आम्बेडकर स्वयं दलित थे और उन्होंने दलित पीड़ा को भोगा था। उनका इतिहास वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है। इसलिए दलित पृष्ठभूमि को समझने के लिए हिन्दू चिन्तन को समझना जरूरी है। वैदिक व्यवस्था उदार थी, आर्यो के प्रभुत्व के बाद कर्म आधारित वर्णव्यवस्था जाति में बदलने लगी। बौद्धों के पतन के बाद जब ब्राह्मणवाद अस्तित्व में आया तो उन्होंने अपने विशेषाधिकार बढ़ाकर मनुस्मृति के कानूनों को प्रभावी बना दिया। शूद्रों और स्त्रियों के विकास को रोककर उन्हें दासों की स्थिति में पहुँचा दिया। अछूतों को मजदूरी के रूप में 'गोबराला' दिया जाता था। भूख ने शादी के अवसरों पर जूठन उठाने को मजबूर कर दिया, जिसको सुखाकर वे कई दिनों तक खाते थे। अछूतों की स्थिति के प्रति सवर्ण असंवेदनशील बने रहें।

'मुसलमानों के आगमन के कारण जाति व्यवस्था को करारी चोट लगी थी लेकिन इसका कारण मजहब नहीं व्यापार था। व्यापार के प्रसार के साथ लोग अपना खानदानी पेशा छोड़कर नए पेशे अपनाने लगते है और नए पेशे पूँजीवादी व्यवस्था में आवश्यकतानुसार स्वभावतः बन जाते है। राजदेव सिंह ने लिखा है, बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में सामन्ती ढाँचा ढीला पड़ने लगा था, वर्णव्यवस्था शिथिल हो रही थी लोग अपना खानदानी पेशे छोड़कर नए पेशे अपनाने लगे थे। गुजरात में दिल्ली के बादशाह के खिलाफ विद्रोह की अगुआई करने वाला तगी जाति का चमार था। अकबर का मुकाबला करने वाला हेमू बनिया था। अकबर का चित्रकार जसवंत सिंह कहार था। कबीर जुलाहे थे, रैदास चमार थे और सेना नाई थे। गोस्वामी तुलसीदास के मानस में नए पंथ की कल्पना करने वाले वर्णाश्रम व्यवस्था को अस्वीकार करने वाले और अपने को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ बताने वाले जिस तेली–कुम्हार आदि वर्णों–धर्मों में उत्पन्न कलयुगी संतो को बुरा भला कहा है, वे तत्कालीन वर्णव्यवस्था के टूटने का अच्छा प्रमाण उपस्थित करते है कि संस्कृति पर ब्राह्मण–पुरोहितों का इजारा टूट रहा था।'[6] लेकिन मुगलकाल और भक्तिकाल की समाप्ति के उपरान्त सामन्ती शासन में फिर दलितों का दलन होता रहा। ब्रिटिश शासन काल में शिक्षा के प्रसार नवजागरण के प्रभाव से दलितों में जागृति पैदा हुई और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता है।

दलित साहित्य की वैचारिकी

उन्नीसवीं शताब्दी में नवजागरण का प्रारम्भ बंगाल से ब्रह्म समाज की स्थापना (राजा राममोहन राय) के साथ हुआ। राजा राममोहन राय समाज सुधारक थे। जिन्होंने बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, पशुबलि, सतीप्रथा और छूआछूत को मिटाने का प्रयास किया। सतीप्रथा को कानूनन बंद करवाने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। वे हिन्दू धर्म की धर्मान्तरण से रक्षा हेतु हिन्दू धर्म में सुधार करना चाहते थे। राजा राम मोहन राय सुधार आन्दोलन को सफलता के परवान नहीं चढ़ा सके क्योंकि आन्दोलनों का नेतृत्व सामन्तों के हाथों में था। आम जनता पर ब्राह्मणों को प्रभाव कम नहीं हुआ और जनता सुधारों की तरफ आकृष्ट नहीं हो सकी। डॉ. आम्बेडकर ने जाति का विनाश अपने भाषण में चर्चा की है, 'मूलतः हिन्दू समाज के सुधार के लिए खड़े नहीं हुए। जो लड़ाई लड़ी गई वह मुख्यतः परिवार सुधार के सवाल तक ही सीमित थी। जाति व्यवस्था तोड़ने के संदर्भ में समाज सुधार से इनका कोई सम्बन्ध नहीं था। यहीं कारण है कि समाज सुधार पार्टी कों सफलता नहीं मिली।[7]

डॉ. ऐनी बिसेंट ने दलितों के लिए कोई महत्वपूर्ण सुधार का काम नहीं किया। स्वामी दयानन्द (आर्य समाज के संस्थापक) की मुख्य विचारधारा मनु द्वारा स्थापित धर्म को इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रभाव से बचाना था। दयानन्द सरस्वती तो कबीर जैसे प्रगतिशील संतो का विरोधी था, जिन्होंने दलित सवाल को तत्कालीन समय में उठाकर वर्णव्यवस्था और अवतारवाद का जबरदस्त खंडन किया था।' जाति न पूछो साधु की' और हरि को भजे सो हरि का होई' का उद्घोष कर सामाजिक क्रान्ति पुरुष की भूमिका अदा की थी प्आधुनिक युग में जोतिराव फुले की भूमिका सशक्त और क्रान्तिकारी थी। उन्हें जाति विरोधी आन्दोंलनों का अग्रदूत कहा जा सकता है जिन्होंने 19 वीं शताब्दी में अछूत जातियों के लिए दलित का प्रयोग दिया था। उन्होंने 1840 में बम्बई में अछूतों के लिए स्कूल खोला और 1873 में सत्यशोधक के समाज की स्थापना की जिसका उद्देश्य शूद्र कही जाने वाली जातियों को मानवाधिकार के प्रति जागरूक बनाना और ब्राह्मणी शास्त्रों, पुरोहितवाद जातिप्रथा के विरूद्ध आवाज बुलन्द करना था। नारायण गुरू, रामास्वामी

नायकर, एकनाम, गुरू घासीदास ऐसे नाम है जिन्होंने दलितों के सुधार में क्रांतिकारी भूमिका अदा की।

डॉ. आम्बेडकर का आन्दोलन हिन्दू व्यवस्था के विरूद्ध सीधी टक्कर में 1920 में शुरू हुआ। आम्बेडकर से अछूतों का विद्रोह अपने आलेख में लिखा है, 'पहला कारण यह था कि दलितों को यह अनुभव होने लगा था कि अपीलें और प्रतिरोध हिन्दू व्यवस्था को नहीं बदल सकते हैं क्योंकि हिन्दूओं के दिलों पर उनका कोई असर नहीं होता था तथा दूसरी ओर सरकार ने स्कूल और सार्वजनिक सुविधाएँ दलितों के लिए खोलने की घोषणा की परन्तु हिन्दूओं के विरोध के कारण उपयोग नहीं कर पा रहे थे। अंततः सीधी कार्यवाही करने के सिवा अपने अधिकार पाने के लिए अन्य कोई रास्ता दलितों के पास नहीं था।'[8]

आम्बेडकर के आजीवन जी–जान से किए प्रयासों के बावजूद जाति विहीन समाज नहीं बन सका। इसका कारण सवर्ण वर्ग द्वारा जाति व्यवस्था को पाला–पोसा जा रहा है। दूसरा भारतीय राजनीति भी जाति व्यवस्था को मजबूत कर रही है क्योंकि जाति व्यवस्था उनके लिए लाभ का हथियार है। जिसे नष्ट कर वे अपना अहित करना नहीं चाहते है। आम्बेडकर ने जाति चेतना पर विचार किया परन्तु वर्ण चेतना का पक्ष कमजोर रह गया। आज की स्थिति पर टिप्पणी बिना बात अधूरी रहेगी। भाजपा द्वारा मायावती को सत्ता का लालच देना और मायावती की राजनैतिक महत्वकांक्षा ने सारा करा–धरा मिट्टी में मिला दिया। वह उसी ब्राह्मणवाद की समर्थक बन गई जिसके खिलाफ उसका संघर्ष था। यह ऐसा गठजोड़ था जिसकी कीमत दलित आन्दोलन को चुकानी पड़ी कि ब्राह्मणवाद पुनः विजयी मुद्रा में स्थापित हो गया।

दलित साहित्य का विकास

दलित विमर्श राष्ट्रीय आन्दोलन की देन है। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान जब दलित मुक्ति का प्रश्न उठा और पूना पैक्ट के बाद गाँधी जी ने अछूतोद्धार के लिए काम किया तो हिन्दी साहित्यकारों का इस समस्या की और ध्यान दिया। प्रगतिशील साहित्य भी लगभग इसी काल में अस्तित्व में आया। लोकायत जनता का धर्म था जिसने वेद और वर्णव्यवस्था का विरोध किया था। यह परम्परा बौद्वों, सिखों और नाथों से होती हुई मध्यकाल के सन्तों तक पहुँची। जिसमें कबीर, रैदास नानक जैसे जाति का विरोध करने वाले सन्त पैदा हुए।

19 वीं शताब्दी में जोतिराव फुले ने 'तृतीय रत्न' नामक नाटक लिखा तथा उनकी प्रख्यात रचना 'गुलामगिरी' है। के.पी. करूप्पन की 'जाति कुंभी' लम्बी कविता, तथा कुमार आशन की 'चांडाल भिक्षुकी और दुरवस्था रचनाओं में सशक्त दलित विमर्श है। 20 वीं शताब्दी में हीरा डोम की 'अछूत की शिकायत' विचारोत्तेजक दलित विमर्श की कृति है। स्वामी अछूत नन्द की कविता 'मनुस्मृति' पर है। सोहल लाल द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, गया प्रसाद शुक्ल ने दलित जागरण और सुधार से सम्बन्धित कविताएँ लिखी। प्रेमचन्द पर डॉ. आम्बेडकर के दलित मुक्ति आन्दोलन का बहुत असर हुआ। वे गाँधीजी के अछूतोद्धार कार्यक्रम के समर्थक थे। 'ठाकुर का कुआँ, मंदिर, सद्गति, सौभाग्य के कोड़े आदि दिशा निर्धारित करने वाली कहानियों में गिनायी जा सकती है। त्रिलोचन, मुक्तिबोध, घूमिल, नागार्जुन आदि कवियों ने भी प्रगतिशील धारा में दलितों के विमर्श को उभारा है। दलित लेखकों का साहित्य भी सामने आया है जिसमें दया पवार की आत्मकथा' अछूत', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' दलितों की स्थिति और वैचारिक स्तर पर मील की पत्थर है। नैमिशराय, धर्मवीर, जयप्रकाश कर्दम जैसे लेखकों को दलित साहित्य के हस्ताक्षरों में गिना जा सकता है।

आज जो साहित्य लिखा जा रहा है उनको तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है– 1 दलित जातियों में जन्में लेखकों द्वारा लिखा साहित्य जो स्वानुभूति का विराट संसार है। 2 दलितों का चिन्तन अनुभूति के आधार पर लिखा गया है। 3 प्रगतिशील लेखकों द्वारा लिखा साहित्य है जो दलित को सर्वहारा वर्ग की दृष्टि से देखते हैं।

दलित विमर्श

एक ही नस्ल के बीच सामाजिक अलगाव जो ऊँच –नीच का भेद पैदा करता है जिसका कोई तर्कसंगत और वैज्ञानिक आधार नहीं है। इस अमानवीय व्यवस्था को ब्राह्मणों ने धर्म के आधार पर खड़ा किया है और इसे धर्म संहिता का नाम दिया है। इस व्यवस्था में निम्न अवस्था में शूद्र आते है। जिनका कार्य द्विज की सेवा करना इस समुदाय के लिए पढ़ना–लिखना, व्यवसाय करना तथा धन अर्जित करना शस्त्र चलाना वर्जित था। गुरू द्वारा वर्ण निर्धारण के अधिकार को मनु ने पिता को दिया जिसके कारण गुण और कर्म महत्वहीन और जन्म जाति महत्वपूर्ण हो गई। यह दलित समस्या के साथ–साथ राष्ट्रीय समस्या है जिसके केन्द्र में दलित मुक्ति का प्रश्न तो है ही, करोड़ो लोगो के लिए अलगाववाद का जो समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र ब्राह्मणों ने निर्मित किया, उसने राष्ट्रीयता को खंडित किया और यह देश सदियों तक गुलाम रहा। दलित विमर्श के केन्द्र में वे समस्त सवाल है जिनका सम्बन्ध भेदभाव से है चाहे वह भेद जाति के आधार पर हो, नस्ल के आधार पर , लिंग के आधार पर हो या धर्म के आधार पर हो।

अछूतों का इतना बड़ा समूह किस प्रकार अस्तित्व में आया, हिन्दू समाज के पास पौराणिक मिथकों के अलावा कोई वैज्ञानिक जवाब नहीं है। दलित समाज ने अंग्रेजीराज और ईसाई मिशनरियों के प्रयासों से शैक्षिक जागृति से अपने इतिहास को खोजने के प्रयास किए और अपने प्रयासों से जो खोज निकाला उससे सारे पौराणिक मिथक ढह गए। दलित विमर्श जिस सिद्वान्त को विकसित करता है वह भारत के लोगों के बारे में सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण का अध्ययन करता है। भारत की आबादी का वर्गीकरण भाषाई और धार्मिक आधार पर किया जाता है लेकिन आम्बेडकर ने भारत का वर्गीकरण इस आधार पर करने का सिद्वान्त दिया कि

भारत में किस प्रकार लोग अपना जीवन यापन करते है? उनकी सामाजिक, आर्थिक जरूरतें क्या है? वे कहाँ तक धर्म से प्रभावित है? ब्राह्मणों के चिन्तन में ऐसे राष्ट्र की परिकल्पना की जाती है जो वर्ण व्यवस्था पर आधारित हो। तुलसीदास जैसे समन्वयवादी संत भी वर्णव्यवस्था का पुरजोर समर्थन करते है। लेकिन दलित ऐसे राष्ट्रवाद को स्वीकार नहीं कर सकते है। उनका मानना है कि जिस देश मे करोड़ों लोगों को जाति के आधार पर मानवाधिकारों से वंचित रखा जाता है वह देश कैसे सभ्य हो सकता है? जहाँ अछूत जन्म से मरण तक अछूत ही रहता है? जहाँ वर्णव्यवस्था अपरिवर्तनशील क्यों है? मुक्ति की राह कहाँ से निकलेगी यह ज्वलंत प्रश्न है मार्क्सवादी दलित समस्या को एक आर्थिक समस्या मानते है। इस समस्या को श्रम विभाजन से जोड़ते है। वर्णव्यवस्था हिन्दुओं को ऐसा पेशा अपनाने की इजाजत नहीं देता है जो पीढ़ीगत उसका पेशा नहीं है। इसलिए दलित सर्वाधिक शोषित और गरीब है। सामाजिक धारणा के अनुसार दलित चेतना का संघर्ष ब्राह्मणवाद के खिलाफ है। आज ब्राह्मणवाद का अर्थ ब्राह्मण जाति का पर्याय मानकर इस्तेमाल किया जाता है। ब्राह्मणवाद एक व्यवस्था है जिसके सामाजिक और वैचारिक पक्ष है यह व्यवस्था वर्णाश्रम, पुनर्जन्म, कर्मफल और यज्ञ के खम्भों पर खड़ी है। अपनी जाति में विवाह जाति व्यवस्था को मजबूत करता है और जाति व्यवस्था का विनाश नहीं होने देता है। जब पूँजीवाद व्यवस्था और औद्योगिकीकरण ने जाति व्यवस्था की विशेषताओं को नकार दिया फिर सजातीय विवाह के बन्धन ढीले क्यों नहीं हो रहे है? सुवीरा जायसवाल ने इसका जवाब दिया है, 'जाति प्रथा केवल दलितों के शोषण पर ही नहीं स्त्री के शोषण पर भी आधारित थी और आज भी है। जाति प्रथा के वे तत्व जो पूंजीवादी विकास में बाधक बन रहे थे लुप्त हो गए परन्तु सजातीय विवाह तो पूंजीवादी प्रवृत्तियों के अनुकूल है। इसमें पितृसत्तात्मक परिवार वर वधू का चयन, आय, सम्पति और सामाजिक स्थिति को ध्यान में रखकर करते है। वधू पक्ष के लोग वर पक्ष की सभी माँगों को पूरा करने का प्रयास करते है। कन्या का दान होता है,लेनदेन, दहेज प्रथा पूँजी के महत्व को और भी बढ़ावा देती है।'[9]

आम्बेडकर मानते थे कि जाति विनाश के लिए सभी को एक मंच पर इकटठा् करना बहुत मुश्किल काम है। वे मानते थे, हर जाति इस बात में गर्व और आश्वासन का अनुभव करती है कि वह जातियों के पदानुक्रम में कुछ अन्य जातियों से ऊपर है।'[10] दक्षिण के आलवार संत शूद्र थे फिर भी रामानुजाचार्य ने एक सीमा तक भजन–कीर्तन के स्तर पर जाति पाँति के बंधन को तोड़ दिया लेकिन भोजन अलग–अलग करने का निर्देश दिया। डॉ. वासुदेव सिंह ने लिखा है, 'हम रामानुजाचार्य को अधिक दोष क्यों दे, जबकि उनके लगभग 800 वर्षों बाद, भंगी के घर जन्म लेने की आकांक्षा प्रकट करने वाले महात्मा गाँधी भी यह करने के लिए बाध्य हुए कि मेरे विचार से इस युग में रोटी–बेटी के व्यवहार की मर्यादा का लोप नहीं हो सकता।'[11]

ऐसे में जाति का विनाश स्वप्न मात्र है। पूँजीवाद के वर्चस्व और भूमण्डलीकरण के प्रभाव ने छूआछूत की भावना जातिगत व्यवसाय चयन की बाध्यता को ढीला कर दिया है। डॉ. पुरूषोतम सत्यप्रेमी ने अपने आलेख में तथाकथित क्षत्राणियों के दोगले चरित्र का कितना अच्छा नक्शा खींचा है, क्षत्राणियों जिनकी गाथाओं से इतिहास भरा पड़ा है। वे अपनी इज्जत आबरू बचाने और पुरूषों के हाथों में पड़ने से पूर्व जौहर कर लेती है या स्वयं को कटार मार लेती है। ऐसी इतिहास प्रसिद्व शौर्य कौम की महिलाएँ अपने पति को निम्न वर्ग की कमजोर स्त्रियों से नहीं बचा पाती हैं। उस समय न उनके छूआछूत आड़े आती है और न क्षत्रियत्व। ठाकुर इन निम्न जाति की महिलाओं की जूठी शराब पी जाते हैं। उनका क्षत्रियत्व उस समय पता नहीं कहाँ हवा हो जाता है? दलित नारियाँ तो अपनी विफलता और सामाजिक उत्पीड़न से विवश होकर ऐसी करती है।'[12]

समाज शास्त्रियों द्वारा स्वानुभूतिपरकता, परानुभूतिपरकता और सहानुभूतिपरकता का विचार दृष्टव्य है। तीनों ही प्रकार का समाज शास्त्रीय अध्ययन किया गया है। यह सच है कि अनुभूति का अपना महत्व है। पर अनुभवाश्रित संवदेना को भी झुठलाया नहीं जा सकता है। अब तो सवर्णों द्वारा लिखा साहित्य भी दलित विरोधी माना जाने लगा है क्योंकि उनकी संवदेना कोमल और नाजुक है और पीड़ा भोग का अनुभव नहीं है। डॉ. धर्मवीर की कृति 'प्रेमचन्द: सामन्त का मुंशी'' में प्रेमचन्द को दलित विरोधी साबित करते है। वे लिखते है, हर सवर्ण अनिवार्य तौर पर जारकर्म में अभ्यस्त होता है। जार का मतलब यौन अपराध से है। धर्मवीर की कल्पना में कफन कहानी की बुधिया के पेट में बच्चा पल रहा है वह माधव का नहीं बल्कि किसी सवर्ण के जारकर्म की देन है। इसलिए प्रेमचंद यह नहीं पकड़ पाये कि घीसू माधव बुधिया को मरने देकर या उसके कफन के लिए जुटाए गए पैसों को शराब में उड़ाकर सवर्णों के जार कर्म का नैतिक प्रतिवाद किया था। धर्मवीर के अनुसार कायस्थ प्रेमचंद भला इसे कैसे समझ पाते क्योंकि वे खुद भी रखैल रखकर जारकर्म में अभ्यस्त थे।'[13] दलित लेखकों का कहना है कि यह कहानी हिन्दू पूर्वाग्रहों और मान्यताओं को सुदृढ़ करती है तथा दलित जीवन का नकारात्मक चित्रण करती है। दलित लेखकों की कोशिश रही है कि वे अपने जीवन के अनुभवों, दृष्टिकोण, प्रतिक्रियाएँ, सरोकार, आशय को पूरी ईमानदारी के साथ बिना किसी आचरण के सृजन में अभिव्यक्त करें। डॉ. मैनेजर पांडेय का कहना है, 'दलित लेखकों के पास भले ही कला न हो लेकिन उनके मन में कुछ कहने की, अपनी भावनाएँ व्यक्त करने की बैचेनी है। उनकी आत्मानुभूति की आंकाक्षा को समझे बिना कला की माँग करना उनके साथ ज्यादती है।'[14]

दलितों के बारें में केवल दलित ही लिखें इस सिद्वान्त का मूल स्रोत राजनीति है जिसके अनुसार यह कहा जा रहा है कि दलित वोट केवल दलित को ही दे। लेकिन इस राजनीति से मुक्ति का मार्ग मिलना मुश्किल है।दलित पर लिखने के लिए दलित और मजदूर पर लिखने के लिए मजदूर बनना अनिवार्य शर्त नहीं है। सत्ता तक पहुँचने की वोट राजनीति जाति परक बड़ी अस्मिताओं को गढ़ने का प्रपंच करती है जिससे जनाधार खड़ा किया जा सके। यह सब जानते है कि आज भी दलितों की बड़ी संख्या भूमिहीन है जिसके लिए वर्ग संघर्ष की आवश्यकता है पर नेताओं का ध्यान तो शिक्षा और आरक्षण की राजनीति पर है यह वर्चस्व की संकुचित राजनीति का ही परिणाम है कि जहाँ ऊँची जाति के लोग आरक्षण हटाने की बात करते हैं पर पिछड़ेपन को दूर करने का नारा बुलन्द करने वाले पिछड़ेपन को आधार बनाकर, विशेषाधिकार आरक्षण और सुविधाओं की माँग करते हैं। आम्बेडकर ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया , बुद्ध तो दलित नहीं थे फिर भी उन्होंने कैसे अपने समय में दलितों और पीड़ितों की मुक्ति के लिए आन्दोलन किया था दलितों की मुक्ति का मार्ग आम्बेडकर वाद में है और दलित साहित्य वास्तव में आम्बेडकरवादी जीवन प्रेरणाओं का साहित्य है। ताराचन्द खांडेकर ने अपने आलेख में आम्बेडकरवाद को परिभाषित करते हुए लिखा है, 'एक व्यक्ति एक मूल्य को मानकर स्वातंत्र्य, समता, भ्रातृत्व अर्थात् सामाजिक नैतिकता को स्वीकार करते हुए व्यक्ति के सर्वांगपूर्ण कल्याण साधन का संसदीय जनतंत्रात्मक जीवन मार्ग आम्बेडकरवाद है।' [15]

आधुनिक विचारधारा यह मानकर चलती है कि राज्य एक ऐसा माध्यम है जिसके सहारे समाज में अपेक्षित बदलाव लाया जा सकता है राज्य जाति व्यवस्था को खत्म करने का कानून बना सकता है लेकिन जाति व्यवस्था आज शक्ति स्रोत के रूप में सत्तारूढ़ होने के लिए इस्तेमाल की जा रही है। सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन के बिना जाति व्यवस्था खत्म नहीं की जा सकती है। इसी वर्णव्यवस्था में कृष्णदेव, रैदास और कबीर को संतों का सम्मान मिला है। मछुआरे जाति की सत्यवती ने शान्तनु से विवाह कर राजवंश की परम्परा को चलाया, नीति विशारद विदुर दासी पुत्र होने पर भी ऋषि के समान सम्मान मिला है। रामायण के निशादराज को राम ने गले लगाया है और दलित शबरी के जूठे बेरों को राम ने खाया है।

आजादी के 72 साल बीत जाने पर भी दलितों को आरक्षण का लाभ सही नहीं मिला है। यह विडम्बना है कि आज पढ़े लिखे नौकरी पेशा से जुड़े अभिजन दलितों का नया वर्ग बन गया है जिसने 70–80 प्रतिशत कमजोर, शोषित पीड़ित दलितों ने नाता तोड़ लिया है। गाँवों से नाता तोड़कर गाँवों का रास्ता भूल गए हैं। शहरों की आलीशान कॉलोनियों में अपना घर बना लिया है। अपने को द्विजों की जमात में शामिल करके दरिद्र–दलितों से मिलने जुलने में परहेज करने लगा है। यह तबका मनुवाद को गाली देते–देते रास्ता भटक गया है और मनुवाद की शरण स्थली में चला गया है। वैचारिक स्तर पर उनकी सोच में दलितों की दरिद्रता दूर करने की कोई योजना नहीं है। इनके आन्दोलनों में सामाजिक आर्थिक हक प्राप्त करने की बात नहीं केवल आरक्षण सम्बन्धी चर्चा होती है। आश्चर्य तब होता है जब इनकी बैठकों की चर्चा, हिंसा, अत्याचार और बलात्कार जैसी घटनाओं पर नहीं होती है। ऐसे संगठनों की चिन्ता और चिन्तन में एक मात्र विषय ''राजसत्ता में भागीदारी'' होता है।

दलित साहित्य विमर्श आज के साहित्य की राजनीति है जिसमें धर्मवीरों की गुर्राहट है और नामवरों की मुश्किल। उन धर्मवीरों का पुराने ब्राह्मणवादी मठों पर हल्ला बोल युद्ध जारी है। यह कितनी विडम्बना है कि हिन्दू अपनी मृत माँ का दाह संस्कार करने स्वंय जाता है और गाय को माँ मानकर उस पर राजनीति चमकाता है, जिस गाय का अमृत सा दूध पीता है, वह उसके मृत शरीर को बाहर खींचकर ले जाने की उम्मीद दलित से करता है।

निष्कर्ष

भारतीय समाज में दलितों की समस्त समस्याओं का हल वर्णव्यवस्था में खोजना उचित नहीं है। उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और भूमण्डलीकरण के प्रभावों को बेअसर नहीं माना जा सकता है। दुनियाँ की एक भी सभ्यता ऐसी नहीं है जिसमें वर्ग वैषम्य और शोषण न रहा हो। प्रसिद्व जर्मन चिन्तक बेन्जामिन ने सभ्यता के हर दस्तावेज को बर्बरता का दस्तावेज कहा है। आज पश्चिम के प्रभाव से देश की जनता की अभिरूचि बदल रही है। जातिव्यवस्था में धर्म का नाभिनाल सम्बन्ध है। मंदिरों में बढ़ती भीड़ और भीड़ का पिकनिकी स्वरूप ने मंदिरों को पर्यटन स्थल में बदल दिया है ऐसे ही जब पूरी व्यवस्था बदलेगी तब ही साहित्य और दलितों की स्थिति में बदलाव आयेगा। साक्षरता प्रचार के समान यदि जाति विरोधी प्रचार होता तो आज तक व्यवस्था बदल गई होती और जातिविहीन समाज हो जाता डॉ. राजकुमार ने ठीक ही लिखा है, 'एक ऐसी व्यवस्था के बारें में सोचना होगा जो पूँजीवादी नवसाम्राज्यवादी शोषण से युक्त हो। तब दलित आन्दोलनों में यह अहसास जगेगा कि उनकी मुक्ति का अभियान समूचे शोषित समाज की मुक्ति का हिरावल दस्ता है।' [16]

दलित समस्या का समाधान इस मानसिकता में है कि इंसान दूसरे इंसान को कमतर नहीं समझे । रंग, नस्ल, लिंग, जाति के आधार को इंसान की हैसियत का मापदण्ड नहीं माने। ऐसी ही संदेश पवित्र कुरान में नुजूल हुआ है, 'लोगों! हमने तुमकों एक मर्द और एक औरत से पैदा किया और फिर तुम्हारी कौमें (जातियों) और बिरादियों(प्रजातियों) बना दी ताकि तुम एक दूसरे को पहचानों। अल्लाह के नजदीक तुम में से सबसे ज्यादा इज्जतवाला वह है जो तुम में सबसे ज्यादा परहेजगार है। यकीनन अल्लाह सबसे ज्यादा जानने वाला और बाखबर है।' [17]

अंत टिप्पणी

1. *हिन्दी साहित्यिक कोश, भाग 1 (धीरेन्द्र वर्मा सम्पादक) ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी,2004 पृ. 285*
2. *रामशरण शर्मा, शूद्रो का प्राचीन इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2003 पृ. 36–37*
3. *अभय कुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2014 पृ. 196*
4. *अभय कुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2014 पृ. 421–22*
5. *अभय कुमार दुबे, आधुनिकता के आइने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2014 पृ. 210*
6. *राजदेव सिंह, कबीर (आधुनिक संदर्भ में), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1997 पृ. 89*
7. *कंवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ.49*
8. *कंवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004,पृ.* 37
9. *तद्भव (स. अखिलेश) जनवरी 2007, अंक–15, पृ. 34–35*
10. *तद्भव (स.अखिलेश) जनवरी 2007, अंक–15, पृ. 36*
11. *डॉ. वासुदेव सिंह, कबीर, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1997 पृ. 86*
12. *दलित साहित्य की प्रमुख विधाएँ, माताप्रसाद, आकाश पब्लिशर्स, गाजियाबाद, 2004, पृ. 89*
13. *पत्रिका आलोचना,(सं. नामवर सिंह), अंक 21, अप्रैल–जून 2005, पृ. 71*
14. *आलोचना (सं. नामवर सिंह) राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, अक्टूम्बर–दिसम्बर 2012, अंक 47 पृ. 77*
15. *दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, सं. सदानन्द शाही, प्रेमचन्द साहित्य संस्थान गोरखपुर, 2000, पृ. 39*
16. *कथाक्रम (सं. शैलैन्द्र) अंक 41, जुलाई–सितम्बर 2009, पृ. 47*
17. *पवित्र कुरान, अध्याय 26, सूरह हुजरात (49)–13*